

## Chapter तीन

### श्रीशिव तथा सती का संवाद

मैत्रेय उवाच

सदा विद्विषतोरेवं कालो वै ध्रियमाणयोः ।

जामातुः श्वशुरस्यापि सुमहानतिचक्रमे ॥ १ ॥

#### शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; सदा—निरन्तर; विद्विषतोः—तनाव; एवम्—इस प्रकार; कालः—समय; वै—निश्चय ही; ध्रियमाणयोः—सहन करते हुए; जामातुः—दामाद का; श्वशुरस्य—ससुर का; अपि—भी; सु-महान्—अत्यधिक; अतिचक्रमे—बीत गया।

मैत्रेय ने आगे कहा : इस प्रकार से जामाता शिव तथा श्वसुर दक्ष के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में विदुर ने मैत्रेय से प्रश्न किया था कि शिव तथा दक्ष के बीच मनोमालिन्य (कलह) का क्या कारण था? दूसरा प्रश्न है कि दक्ष तथा उनके दामाद के बीच होने वाले इस कलह से सती ने अपना शरीर नष्ट क्यों किया? सती द्वारा शरीर-त्याग का मुख्य कारण यह था कि दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ किया, जिसमें शिव को आमंत्रित नहीं किया गया। सामान्यतः जब भी कोई यज्ञ किया जाता है, तो सभी देवताओं, विशेषतः ब्रह्मा, शिव तथा अन्य प्रमुख देवता, इन्द्र तथा चन्द्र, को आमंत्रित किया जाता है और वे सम्मिलित होते हैं यद्यपि प्रत्येक यज्ञ का ध्येय भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है। कहा जाता है कि जब तक सब देवता उपस्थित न रहें, तब तक कोई भी यज्ञ पूरा नहीं होता। लेकिन दामाद तथा श्वसुर के बीच तनाव के होते हुए ही, दक्ष ने दूसरा यज्ञ प्रारम्भ कर दिया जिसमें शिवजी को आमंत्रित नहीं किया गया। ब्रह्मा ने दक्ष को मुख्य प्रजापति के रूप में नियुक्त किया था और वह ब्रह्माजी का पुत्र था ही, अतः उसका पद ऊँचा था जिससे उसको बहुत घमंड होने लगा।

यदाभिषिक्तो दक्षस्तु ब्रह्मणा परमेष्ठिना ।

प्रजापतीनां सर्वेषामाधिपत्ये स्मयोऽभवत् ॥ २ ॥

#### शब्दार्थ

यदा—जब; अभिषिक्तः—नियुक्त; दक्षः—दक्ष; तु—लेकिन; ब्रह्मणा—ब्रह्मा द्वारा; परमेष्ठिना—परम शिक्षक; प्रजापतीनाम्—प्रजापतियों का; सर्वेषाम्—समस्त; आधिपत्ये—प्रधान के रूप में; स्मयः—गर्वित; अभवत्—हो गया।

ब्रह्मा ने जब दक्ष को समस्त प्रजापतियों का मुखिया बना दिया तो दक्ष गर्व से फूल उठा।

**तात्पर्य :** यद्यपि दक्ष शिवजी के प्रति ईर्ष्या-द्वेष तथा शत्रुभाव से पूर्ण था, तथापि उसे समस्त प्रजापतियों का अधीक्षक नियुक्त कर दिया गया। इससे उसको अतीव गर्व हो गया। जब मनुष्य को अपनी भौतिक संपदा पर गर्व हो जाता है, तो वह कोई भी आपदाजनक कार्य कर सकता है, अतः दक्ष ने झूठी प्रतिष्ठा के बल पर कार्य किया। इस अध्याय में इसी का वर्णन है।

इष्ट्वा स वाजपेयेन ब्रह्मिष्ठानभिभूय च ।  
बृहस्पतिसवं नाम समारेभे क्रतूत्तमम् ॥ ३ ॥

#### शब्दार्थ

इष्ट्वा—सम्पन्न करके; सः—वह ( दक्ष ); वाजपेयेन—वाजपेय यज्ञ से; ब्रह्मिष्ठान्—शिव तथा उनके अनुयायियों को; अभिभूय—उपेक्षा करके; च—तथा; बृहस्पति-सवम्—बृहस्पति-सव; नाम—नामक; समारेभे—प्रारम्भ किया; क्रतु-उत्तमम्—यज्ञों में श्रेष्ठ।

दक्ष ने वाजपेय नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और उसे अत्यधिक विश्वास था कि ब्रह्माजी का समर्थन तो प्राप्त होगा ही। तब उसने एक अन्य महान् यज्ञ किया जिसे बृहस्पति-सव कहते हैं।

**तात्पर्य :** वेदों में संस्तुति की गई है कि बृहस्पति-सव नामक यज्ञ करने के पूर्व वाजपेय यज्ञ सम्पन्न होना चाहिए। किन्तु दक्ष ने इन यज्ञों को करते समय शिव जैसे महान् भक्तों की उपेक्षा की। वैदिक शास्त्रों के अनुसार देवता यज्ञ में सम्मिलित होने तथा आहुति में भाग लेने के अधिकारी हैं, किन्तु दक्ष उनकी उपेक्षा करना चाह रहा था। सभी यज्ञों का अभीष्ट भगवान् विष्णु को तुष्ट करना होता है, किन्तु विष्णु में उनके सभी भक्त आ जाते हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता भगवान् विष्णु के आज्ञाकारी दास हैं, अतः इनके बिना विष्णु कभी सन्तुष्ट नहीं होते। किन्तु दक्ष को अपने पद का घमंड हो गया था, अतः वह ब्रह्मा तथा शिव को इस यज्ञ से यह सोचकर वंचित रखना चाह रहा था कि यदि कोई विष्णु को प्रसन्न कर ले तो फिर उनके अनुयायियों को प्रसन्न करने की कोई आवश्यकता नहीं है। किन्तु विधान ऐसा नहीं है। विष्णु चाहते हैं कि पहले उनके अनुयायी तुष्ट हों। भगवान् कृष्ण ने कहा है मद्भक्तपूजाभ्यधिका—मेरे भक्तों की पूजा मेरी पूजा से श्रेष्ठ है। इसी प्रकार से शिवपुराण में कहा गया है कि पूजा की सर्वश्रेष्ठ विधि विष्णु को आहुति प्रदान करना है, किन्तु इससे भी श्रेष्ठ है कृष्ण के भक्तों की पूजा करना। इस प्रकार यज्ञों में शिव की उपेक्षा करना समुचित न था।

तस्मिन्ब्रह्मर्षयः सर्वे देवर्षिपितृदेवताः ।

आसन्कृतस्वस्त्ययनास्तत्पत्यश्च सभर्तृकाः ॥ ४ ॥

### शब्दार्थ

तस्मिन्—उस ( यज्ञ ) में; ब्रह्म-ऋषयः—ब्रह्मर्षि गण; सर्वे—समस्त; देवर्षि—देवर्षिगण; पितृ—पूर्वज, पितरगण; देवताः—देवता; आसन्—थे; कृत-स्वस्ति-अयनाः—आभूषणों से अच्छी प्रकार से अलंकृत किया गया; तत्-पत्यः—उनकी पत्नियाँ; च—तथा; स-भर्तृकाः—अपने-अपने पतियों सहित ।

जब यज्ञ सम्पन्न हो रहा था ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों से अनेक ब्रह्मर्षि, मुनि, पितृकुल के देवता तथा अन्य देवता, आभूषणों से अलंकृत अपनी-अपनी पत्तियों सहित उसमें सम्मिलित हुए।

तात्पर्य : किसी भी शुभ उत्सव में, चाहे ब्याह हो, यज्ञ हो या पूजा हो, विवाहित स्त्रियों के लिए यह शुभ माना जाता है कि वे अच्छे-अच्छे आभूषणों, वस्त्रों तथा अंगरागों से अपने को अलंकृत करें। ये मांगलिक चिह्न हैं। उस 'बृहस्पति-सव' नामक महान् यज्ञ में स्वर्ग की अनेक स्त्रियाँ अपने-अपने देवर्षि, राजर्षि तथा देव पतियों के साथ एकत्र हुईं। इस श्लोक में यह विशेष रूप से उल्लेख है कि वे अपने-अपने पतियों के साथ आईं, क्योंकि जब स्त्रियाँ अच्छी तरह अलंकृत होती हैं, तो उनके पति और अधिक मुद्रित होते हैं। देवों तथा मुनियों की पत्तियों की सज्जा, उनके आभूषण तथा वेशभूषा एवं ऋषियों-मुनियों की प्रसन्नता—ये सब उस उत्सव के मांगलिक चिह्न थे।

तदुपश्रुत्य नभसि खेचराणां प्रजल्पताम् ।

सती दाक्षायणी देवी पितृयज्ञमहोत्सवम् ॥ ५ ॥

व्रजन्तीः सर्वतो दिग्भ्य उपदेववरस्त्रियः ।

विमानयानाः सप्रेष्ठा निष्ककण्ठीः सुवाससः ॥ ६ ॥

दृष्ट्वा स्वनिलयाभ्याशे लोलाक्षीर्मृष्टकुण्डलाः ।

पतिं भूतपतिं देवमौत्सुक्यादभ्यभाषत ॥ ७ ॥

### शब्दार्थ

तत्—तब; उपश्रुत्य—सुनकर; नभसि—आकाश में; खे-चराणाम्—आकाश मार्ग से जाने वाले ( गन्धर्व ); प्रजल्पताम्—संलाप; सती—सती; दाक्षायणी—दक्ष की पुत्री; देवी—शिव की पत्नी; पितृ-यज्ञ-महा-उत्सवम्—अपने पिता द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला महान् यज्ञ; व्रजन्तीः—जा रहे थे; सर्वतोः—सभी; दिग्भ्यः—दिशाओं से; उपदेव-वर-स्त्रियः—देवताओं की सुन्दर स्त्रियाँ; विमान-यानाः—अपने-अपने विमानों में उड़ती हुईं; स-प्रेष्ठाः—अपने-अपने पतियों के संग; निष्क-कण्ठीः—लाकेट से युक्त सुन्दर हार पहने; सु-वाससः—सुन्दर वस्त्रों से आभूषित; दृष्ट्वा—देखकर; स्व-निलय-अभ्याशे—अपने घर के निकट; लोल-अक्षीः—चंचल नेत्रोंवाली; मृष्ट-कुण्डलाः—सुन्दर कान के आभूषण; पतिम्—अपने पति; भूत-पतिम्—भूतों के स्वामी; देवम्—देवता; औत्सुक्यात्—उत्सुकता से; अभ्यभाषत—वह बोली ।

दक्ष कन्या साध्वी सती ने आकाश मार्ग से जाते हुए स्वर्ग के निवासियों को परस्पर बातें

करते हुए सुना कि उसके पिताद्वारा महान् यज्ञ सम्पन्न कराया जा रहा हैं। जब उसने देखा कि सभी दिशाओं से स्वर्ग के निवासियों की सुन्दर पत्नियाँ, जिनके नेत्र अत्यन्त सुन्दरता से चमक रहे थे, उसके घर के समीप से होकर सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित होकर तथा कानों में कुण्डल एवं गले में लाकेट युक्त हार से अलंकृत होकर जा रही हैं, तो वह अपने पति भूतनाथ के पास अत्यन्त उद्विगता-पूर्वक गई और इस प्रकार बोली।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि शिवजी का निवासस्थान इस लोक में न होकर कहीं बाह्य अन्तरिक्ष में था, अन्यथा विभिन्न दिशाओं से इस लोक की ओर आते हुए विमानों को सती कैसे देख पातीं और विमान के यात्रियों को दक्ष के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले यज्ञ के सम्बन्ध में बातें करते हुए कैसे सुन सकती थीं? सती को यहाँ पर *दाक्षायणी* कहा गया है, क्योंकि वह राजा दक्ष की पुत्री थीं। *उपदेव-वर* से तात्पर्य है निम्न श्रेणी के देवता, यथा गंधर्व, किन्नर तथा उरग जो वास्तव में देवता न होकर देवताओं तथा मनुष्यों के बीच की श्रेणी के प्राणी हैं। वे भी विमानों से आ रहे थे। *स्व-निलयाभ्याशे* शब्द सूचित करता है कि वे उनके निवासस्थान के पास से जा रहे थे। यहाँ पर स्वर्ग के निवासियों की पत्नियों की वेशभूषा तथा उनके शारीरिक गठन का सुन्दर वर्णन हुआ है। उनके नेत्र चंचल थे, उनके कुण्डल तथा अन्य आभूषण चमचमा रहे थे, वे एक-से एक सुन्दर वस्त्र धारण किये थीं और उन सबों ने अपने हारों में विशेष लाकेट लगा रखे थे। प्रत्येक स्त्री अपने पति के साथ थी। इस प्रकार वे इतनी सुन्दर लग रही थीं कि सती की भी इच्छा हुई कि वे भी उसी प्रकार सज्जित होकर अपने पति के साथ यज्ञ में जाएँ। यह स्त्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।

सत्युवाच

प्रजापतेस्ते श्वशुरस्य साम्प्रतं

निर्यापितो यज्ञमहोत्सवः किल ।

वयं च तत्राभिसराम वाम ते

यद्यर्थितामी विबुधा व्रजन्ति हि ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सती उवाच—सती ने कहा; प्रजापतेः—दक्ष का; ते—तुम्हारे; श्वशुरस्य—ससुर का; साम्प्रतम्—इस समय; निर्यापितः—प्रारम्भ किया गया है; यज्ञ-महा-उत्सवः—महान् यज्ञ; किल—निश्चय ही; वयम्—हम; च—तथा; तत्र—वहाँ; अभिसराम—जा सकें;

वाम—हे प्राणप्रिय शिव; ते—तुम्हारा; यदि—यदि; अर्थात्—इच्छा; अमी—ये; विबुधाः—देवता; व्रजन्ति—जा रहे हैं; हि—क्योंकि।

सती ने कहा : हे प्राणप्रिय शिव, इस समय आपके श्वसुर महान् यज्ञ कर रहे हैं और सभी देवता आमंत्रित होकर वहीं जा रहे हैं। यदि आप कहें तो हम भी चले चलें।

तात्पर्य : सती को अपने पति तथा पिता के मध्य चल रहे तनाव का पता था, फिर भी सती ने अपने पति से कहा कि चूँकि उसके पिता के घर पर यज्ञ हो रहा है और इतने सारे देवता उसमें जा रहे हैं, अतः वह भी जाना चाहती है। किन्तु वह अपनी इच्छा प्रत्यक्ष रूप से व्यक्त नहीं कर सकती थी, अतः उसने अपने पति से कहा कि यदि वे जाने के इच्छुक हों तो वह भी उनके साथ चल सकती है। कहने का तात्पर्य यह कि उसने अपनी इच्छा अत्यन्त विनय पूर्वक अपने पति के समक्ष व्यक्त की।

तस्मिन्भगिन्यो मम भर्तृभिः स्वकै-  
ध्रुवं गमिष्यन्ति सुहृद्दिदक्षवः ।  
अहं च तस्मिन्भवताभिकामये  
सहोपनीतं परिबर्हमर्हितुम् ॥ ९ ॥

#### शब्दार्थ

तस्मिन्—उस यज्ञ में; भगिन्यः—बहनें; मम—मेरी; भर्तृभिः—अपने-अपने पतियों सहित; स्वकैः—अपनी ओर से; ध्रुवम्—निश्चय ही; गमिष्यन्ति—जाएंगी; सुहृद्-दिदक्षवः—अपने परिजनों से भेंट करने की इच्छुक; अहम्—मैं; च—तथा; तस्मिन्—उस उत्सव में; भवता—आपके ( शिव के ) साथ; अभिकामये—इच्छा करती हूँ; सह—साथ; उपनीतम्—प्रदत्त; परिबर्हम्—आभूषण; अर्हितुम्—स्वीकार करने।

मैं सोचती हूँ कि मेरी सभी बहनें अपने सम्बन्धियों से भेंट करने की इच्छा से अपने-अपने पतियों सहित इस महान् यज्ञ में अवश्य आयी होंगी। मैं भी अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करके आपके साथ उस उत्सव में भाग लेने की इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यह स्त्रियों का स्वभाव है कि वे आभूषणों तथा वस्त्रों से अलंकृत होकर अपने पतियों के साथ सामाजिक उत्सवों में जाना चाहती हैं, वहाँ अपने इष्ट मित्रों तथा सम्बन्धियों में मिलती हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द उठाती हैं। यह कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि भौतिक सुख का मूलाधार स्त्रियाँ हैं। इसीलिए संस्कृत में स्त्री शब्द प्रयुक्त मिलता है, जिसका अर्थ है “वह जो भौतिक सुखोपभोग के क्षेत्र को विस्तारित कर देती है।” भौतिक जगत में स्त्री तथा पुरुष के मध्य आकर्षण होता है। बद्धजीवन की यही व्यवस्था है। स्त्री पुरुष को आकृष्ट करती है और इस प्रकार से

सांसारिकता, जिसमें घर, सम्पत्ति, सन्तान, मित्रता इत्यादि सम्मिलित हैं, बढ़ती जाती है और भौतिक आवश्यकताएँ घटने के बजाय बढ़ती ही जाती हैं और मनुष्य भौतिक भोग में फँस जाता है। किन्तु भगवान् शिव भिन्न हैं; इसीलिए उनका नाम शिव है। वे भौतिक भोग से आकृष्ट नहीं होते, यद्यपि उनकी पत्नी सती एक महान् जननायक (प्रजापति) की पुत्री थी और ब्रह्मा के कहने पर शिव को दी गई थी। शिव को कोई चाह न थी, किन्तु राजा की कन्या होने के नाते सती सुखोपभोग चाहती थी। वह भी अपनी अन्य बहनों के समान अपने पिता के घर जाना चाहती थीं और वहाँ सबसे मिलकर सामाजिक जीवन का आनन्द उठाना चाह रही थी। यहाँ पर उसने विशेष रूप से संकेत किया है कि वह अपने पिता से प्राप्त आभूषण पहन कर सुसज्जित होना चाहती है। उसने यह नहीं कहा कि वह पति से प्राप्त गहने पहनकर सुसज्जित होना चाहती है, क्योंकि उसके पति इन सभी मामलों के प्रति उदासीन थे। उन्हें इसका ज्ञान नहीं था कि पत्नी को किस प्रकार सजाकर उत्सवों में भाग लेना चाहिए, क्योंकि वे तो भगवान् के भावों में ही निमग्न रहते थे। वैदिक प्रथा के अनुसार कन्या को विवाह के समय दहेज दिया जाता है, अतः सती को भी अपने पिता से दहेज प्राप्त हुआ था जिसमें आभूषण (गहने) भी थे। यह भी प्रथा है कि पति भी कुछ आभूषण देता है, किन्तु यहाँ पर इसका विशेष उल्लेख है कि सती का पति भौतिक सम्पत्ति में शून्य-प्राय होने के कारण कुछ नहीं दे सका था, इसीलिये वह अपने पिता द्वारा प्रदत्त आभूषणों से अपने को अलंकृत करना चाह रही थी। यह तो सती का सौभाग्य था कि पति ने उसके गहने गाँजा खरीदने में नहीं फूँक दिये थे, क्योंकि जो गाँजा पीने में शिव का अनुसरण करते हैं, वे गृहस्थी को चौपट कर देते हैं। वे अपनी पत्नियों की सभी सम्पत्ति को बेचकर गाँजा पीने नशा करने तथा ऐसी ही दूसरी आदतों में खर्च कर देते हैं।

तत्र स्वसृर्मे ननु भर्तृसम्मिता

मातृष्वसृः क्लिन्नधियं च मातरम् ।

द्रक्ष्ये चिरोत्कण्ठमना महर्षिभिर्

उन्नीयमानं च मृडाध्वरध्वजम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; स्वसुः—अपनी बहनें; मे—मेरी; ननु—निश्चय ही; भर्तृ-सम्मिताः—अपने-अपने पतियों के साथ; मातृ-स्वसुः—मौसियाँ; क्लिन्न-धियम्—स्नेहिल; च—तथा; मातरम्—माता को; द्रक्ष्ये—देखूँगी; चिर-उत्कण्ठ-मनाः—दीर्घकाल से उत्सुक; महा-ऋषिभिः—महान् ऋषियों द्वारा; उन्नीयमानम्—उठाये हुए; च—तथा; मृड—हे शिव; अध्वर—यज्ञ; ध्वजम्—झंडे।

वहाँ पर मेरी बहनें, मौसियाँ तथा मौसे एवं अन्य प्रिय परिजन एकत्र होंगे; अतः यदि मैं वहाँ तक जाऊँ तो उन सबों से मेरी भेंट हो जाये और साथ ही मैं उड़ती हुई ध्वजाएँ तथा ऋषियों द्वारा सम्पन्न होते यज्ञ को भी देख सकूँगी। हे प्रिय, इसी कारण से मैं जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि पहले कहा जा चुका है कि श्वसुर तथा दामाद के बीच दीर्घकाल तक तनाव बना रहा। अतः सती अपने पिता के यहाँ काफी लम्बे समय से जा नहीं पाई थी। इसीलिए वह अपने पिता के घर (मायके) जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक थी, विशेष रूप से ऐसे अवसर पर जब उसकी सारी बहनें, उसके बहनोई तथा उसकी मौसियाँ वहाँ एकत्र हुई होंगी। जैसाकि हर स्त्री के लिए स्वाभाविक है, वह भी अपनी अन्य बहनों के समान वस्त्र धारण करना और पति के साथ जाना चाह रही थी। निस्सन्देह, वह अकेले नहीं जाना चाहती थी।

त्वय्येतदाश्चर्यमजात्ममायया

विनिर्मितं भाति गुणत्रयात्मकम् ।

तथाप्यहं योषिदतत्त्वविच्च ते

दीना दिदृक्षे भव मे भवक्षितिम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—तुममें; एतत्—वह; आश्चर्यम्—विस्मयजनक; अज—हे शिव; आत्म-मायया—परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति से; विनिर्मितम्—विरचित; भाति—प्रतीत होती है; गुण-त्रय-आत्मकम्—प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया होने से; तथा अपि—तो भी; अहम्—मैं; योषित्—स्त्री; अतत्त्व-वित्—सत्य से अनजान; च—तथा; ते—तुम्हारी; दीना—गरीब, दुखिया; दिदृक्षे—देखना चाहती हूँ; भव—हे शिव; मे—मेरी ( अपनी ); भव-क्षितिम्—जन्म भूमि।

यह दृश्य जगत त्रिगुणों की अन्तःक्रिया अथवा परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति की अद्भुत सृष्टि है। आप इस वास्तविकता से भलीभाँति परिचित हैं। किन्तु मैं तो अबला स्त्री हूँ और जैसा आप जानते हैं मैं सत्य से अनजान हूँ। अतः मैं एक बार फिर से अपनी जन्मभूमि देखना चाहती हूँ।

तात्पर्य : दाक्षायणी सती यह भलीभाँति जानती थी कि उसके पति शिवजी भौतिक जगत की चमक-दमक में, जो कि प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया से उत्पन्न है, अधिक रुचि नहीं रखते। इसलिए उसने अपने पति को अज कहकर सम्बोधित किया है, जिसका अर्थ है, जो जन्म-मरण के बन्धन से परे है, अथवा जिसने अपना शाश्वत पद अनुभव कर लिया है। उसने कहा, “आपमें इस

विकृत प्रतिबिम्ब अर्थात् दृश्य जगत को सत्य मानने जैसा मोह नहीं है, क्योंकि आप आत्मवेत्ता हैं। आपके लिए सामाजिक जीवन का आकर्षण यथा पिता, माता, बहन जैसे मिथ्या सम्बन्धों के विचार समाप्त हो चुके हैं, किन्तु मैं तो अबला ठहरी। मैं दिव्य-साक्षात्कार में इतनी अग्रसर नहीं हूँ। अतः स्वाभाविक है कि ये सब मुझे सत्य प्रतीत हो रहे हैं।” केवल अल्पज्ञानी इस आत्मजगत के विकृत प्रतिबिम्ब को वास्तविक मानते हैं। जो लोग बहिरंगा शक्ति के वशीभूत हैं, वे इस जगत को वास्तविक मानते हैं, किन्तु जो आत्म-ज्ञान में बड़े-चढ़े हैं वे इसे मोह मानते हैं। वास्तविकता तो कहीं और अर्थात् अध्यात्मिक जगत में है। सती ने कहा, “जहाँ तक मेरा सवाल है मुझे आत्म-साक्षात्कार का अधिक ज्ञान नहीं है। मैं दीन हूँ, क्योंकि मुझे वास्तविकता का ज्ञान नहीं है। मुझे तो अपनी जन्मभूमि खींच रही है और मैं उसे देखना चाहती हूँ।” जिसे अपनी जन्मभूमि, अपनी देह तथा भागवत में उद्धृत ऐसी ही अन्य वस्तुओं के प्रति आकर्षण पाया जाता है, वह गधे या गरु तुल्य हैं। सती ने यह सब अपने पति से अनेक बार सुना होगा, किन्तु योषित् (स्त्री) होने के कारण उसे इन भौतिक वस्तुओं के प्रति स्नेह बना हुआ था। योषित् का अर्थ है, “जिसका भोग किया जाये, भुक्ति” इसीलिए स्त्री योषित् कहलाती है। आध्यात्मिक उन्नति में योषित् की संगति वर्जित है, क्योंकि योषित् के हाथ का खिलौना बन जाने से सारी उन्नति रुक जाती है। कहा गया है, “जो लोग स्त्री के हाथों में खिलौने बने रहते हैं” (योषित्-क्रीडा-मृगेषु) वे आत्म-साक्षात्कार की दिशा में प्रगति नहीं कर सकते।

पश्य प्रयान्तीरभवान्ययोषितो

‘प्यलङ्क ताः कान्तसखा वरूथशः ।

यासां व्रजद्भिः शितिकण्ठ मण्डितं

नभो विमानैः कलहंसपाण्डुभिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

पश्य—देखो तो; प्रयान्तीः—जाती हुई; अभव—हे अजन्मा; अन्य-योषितः—अन्य स्त्रियाँ; अपि—निश्चय ही; अलङ्क ताः—सजी-धजी; कान्त-सखाः—अपने पतियों तथा मित्रों सहित; वरूथशः—झुंड की झुंड; यासाम्—जिनके; व्रजद्भिः—उड़ते हुए; शिति-कण्ठ—हे नीलकण्ठ; मण्डितम्—सुशोभित; नभः—आकाश; विमानैः—विमानों से; कल-हंस—हंस; पाण्डुभिः—श्वेत।

हे अजन्मा हे नीलकण्ठ, न केवल मेरे सम्बन्धी वरन् अन्य स्त्रियाँ भी अच्छे अच्छे वस्त्र पहने और आभूषणों से अलंकृत होकर अपने पतियों तथा मित्रों के साथ जा रही हैं। जरा देखो तो कि



उनके श्वेत विमानों के झुण्डों ने सारे आकाश को किस प्रकार सुशोभित कर रखा है!

**तात्पर्य :** यहाँ पर शिवजी को *अभव* कहकर सम्बोधित किया गया है, जिसका अर्थ है, “जिसका कभी जन्म नहीं हुआ” यद्यपि सामान्यतः उन्हें *भव* अर्थात् “जिसका जन्म हुआ है” कहा जाता है। रुद्र अथवा शिव वास्तव में ब्रह्मा के भुक्तियों के मध्य से उत्पन्न हैं। ब्रह्मा *स्वयम्भू* कहलाते हैं, क्योंकि वे किसी मनुष्य से उत्पन्न न होकर सीधे विष्णु के नाभि-कमल से जन्मे हैं। जब यहाँ पर शिव को *अभव* कहा गया है, तो उसका यह अर्थ लगाना चाहिए, “जिसने भौतिक कष्टों का कभी अनुभव नहीं किया।” सती अपने पति को यह बताना चाह रही थी कि जो उसके पिता के सम्बन्धी नहीं थे वे भी जा रहे थे, फिर वह स्वयं तो उनसे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित थी। शिव को यहाँ नीलकण्ठ कहा गया है। शिव ने विष का समुद्र पी लिया था और वे उसे गले (कण्ठ) में ही रखे रहे, पेट में नहीं जाने दिया जिससे उनका कंठ नीला पड़ गया। तभी से वे नीलकण्ठ कहलाने लगे। शिव ने विष का समुद्र परोपकार हेतु पिया था। जब देवों तथा असुरों ने समुद्र का मन्थन किया, तो सबसे पहले विष प्रकट हुआ, अतः यह सोच कर कि विषैले समुद्र से अन्य अल्पज्ञ लोग प्रभावित होंगे शिवजी ने सारा समुद्र-जल पी लिया। कहने का तात्पर्य यह कि जब अन्यो के लाभ के लिए वे इतना विष (गरल) पान कर सकते थे तो जब उनकी पत्नी अपने पिता के घर जाने की प्रार्थना कर रही है, तो भले ही वे अनुमति न देना चाह रहे हों, किन्तु अपनी महान् दयालुतावश उन्हें ऐसा करना ही चाहिए था।

कथं सुतायाः पितृगेहकौतुकं

निशम्य देहः सुरवर्यं नेङ्गते ।

अनाहुता अप्यभियन्ति सौहृदं

भर्तुर्गुरोर्देहकृतश्च केतनम् ॥ १३ ॥

#### शब्दार्थ

कथम्—कैसे; सुतायाः—पुत्री को; पितृ-गेह-कौतुकम्—पिता के घर में उत्सव; निशम्य—सुनकर; देहः—शरीर; सुर-वर्य—हे देवों में श्रेष्ठ; न—नहीं; नेङ्गते—विचलित; अनाहुताः—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाता है; सौहृदम्—मित्र; भर्तुः—पति के; गुरोः—गुरु के; देह-कृतः—पिता के; च—तथा; केतनम्—घर।

हे देवश्रेष्ठ, भला एक पुत्री का शरीर यह सुनकर कि उसके पिता के घर में कोई उत्सव हो रहा है, विचलित हुए बिना कैसे रह सकता है? यद्यपि आप यह सोच रहे होंगे कि मुझे आमंत्रित नहीं किया गया, किन्तु अपने मित्र, पति, गुरु या पिता के घर बिना बुलाये भी जाने में कोई

हानि नहीं होती ।

तन्मे प्रसीदेदममर्त्य वाञ्छितं  
कर्तुं भवान्कारुणिको बतार्हति ।  
त्वयात्मनोऽर्धेऽहमदभ्रचक्षुषा  
निरूपिता मानुगृहाण याचितः ॥ १४ ॥

#### शब्दार्थ

तत्—अतः; मे—मुझ पर; प्रसीद—कृपालु हों; इदम्—यह; अमर्त्य—हे अमर; वाञ्छितम्—इच्छा; कर्तुम्—करने की; भवान्—आप; कारुणिकः—दयालु; बत—हे स्वामी; अर्हति—समर्थ; त्वया—आपके द्वारा; आत्मनः—आपके ही शरीर के; अर्धे—आधे भाग में; अहम्—मैं; अदभ्र-चक्षुषा—सभी ज्ञान से युक्त; निरूपिता—स्थित; मा—मुझको; अनुगृहाण—अनुग्रहीत करें; याचितः—प्रार्थित ।

हे अमर शिव, कृपया मुझ पर दयालु हों और मेरी इच्छा पूरी करें। आपने मुझे अर्द्धांगिनी के रूप में स्वीकार किया है, अतः मुझ पर दया करके मेरी प्रार्थना स्वीकार करें।

#### ऋषिरुवाच

एवं गिरित्रः प्रिययाभिभाषितः  
प्रत्यभ्यधत्त प्रहसन्सुहृत्प्रियः ।  
संस्मारितो मर्मभिदः कुवागिषून्  
यानाह को विश्वसृजां समक्षतः ॥ १५ ॥

#### शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; गिरित्रः—भगवान् शिव ने; प्रियया—अपनी प्रिया द्वारा; अभिभाषितः—कहे जाने पर; प्रत्यभ्यधत्त—उत्तर दिया; प्रहसन्—हँसते हुए; सुहृत्-प्रियः—परिजनों के प्रिय; संस्मारितः—स्मरण करते हुए; मर्म-भिदः—मर्मभेदी, हृदय में चुभने वाले; कुवाक्-इषून्—द्वेषपूर्ण शब्द; यान्—जो ( शब्द ); आह—कहा; कः—कौन ( दक्ष ); विश्व-सृजाम्—ब्रह्माण्ड के स्रष्टाओं की; समक्षतः—उपस्थिति में।

मैत्रेय महर्षि ने कहा : इस प्रकार अपनी प्रियतमा द्वारा सम्बोधित किये जाने पर कैलाश पर्वत के उद्धारक शिव ने हँसते हुए उत्तर दिया यद्यपि उसी समय उन्हें विश्व के समस्त प्रजापतियों के समक्ष दक्ष द्वारा कहे गये द्वेषपूर्ण मर्मभेदी शब्द स्मरण हो आये।

तात्पर्य : जब शिवजी ने अपनी पत्नी से दक्ष के विषय में सुना तो मनोवैज्ञानिक प्रभाव यह हुआ कि उन्हें तुरन्त विश्व के प्रजापतियों की सभा में अपने विरुद्ध कहे गये कटु शब्द याद हो उठे और मन ही मन वे अत्यन्त दुखित हुए, किन्तु अपनी पत्नी को प्रसन्न करने के लिए ऊपर से हँस पड़े। भगवद्गीता में कहा गया है कि मुक्त पुरुष इस भौतिक संसार में विपत्ति तथा सुख दोनों में मानसिक

सन्तुलन बनाये रखता है। अतः यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि शिव जैसा मुक्त पुरुष दक्ष के शब्दों से इतना अप्रसन्न क्यों था? इसका उत्तर श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने दिया है। भगवान् शिव आत्माराम हैं, किन्तु चूँकि उन्हें तमोगुण का भार सौंपा गया है, अतः वे कभी-कभी इस भौतिक जगत के सुख तथा दुख से प्रभावित होते रहते हैं। इस भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत के सुख तथा दुख में अन्तर यही है कि आध्यात्मिक जगत में इनका प्रभाव त्रिगुणातीत है। अतः परम जगत में कोई दुखी तो हो सकता है, किन्तु इस तथाकथित दुख (कष्ट) की अभिव्यक्ति सदैव आनन्दमय होती है। उदाहरणार्थ, बचपन में एक बार भगवान् कृष्ण को माता यशोदा ने डाँटा तो वे रोने लगे। यद्यपि उनके नेत्रों से आँसू गिरे, किन्तु इसे तमोगुण का प्रभाव नहीं मानना चाहिए, क्योंकि यह घटना दिव्य सुख से पूर्ण थी। कृष्ण अनेक प्रकार से लीलाएँ कर रहे थे। कभी-कभी ऐसा प्रतीत होता था कि वे गोपियों को सता रहे हैं, किन्तु ऐसा व्यवहार दिव्य आनन्द से ओत-प्रोत था। भौतिक तथा आध्यात्मिक जगत में यही अन्तर है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ शुद्ध है, किन्तु भौतिक जगत में वही विकृत दिखता है। चूँकि आध्यात्मिक जगत में सब कुछ पूर्ण (परम) है, अतः सुख तथा दुख में आनन्द के अतिरिक्त अन्य कोई अनुभूति नहीं होती, किन्तु भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु प्रकृति के गुणों से दूषित है, अतः दुख तथा सुख का अनुभव होता रहता है। इसीलिए आत्मज्ञानी पुरुष होते हुए भी तमोगुण का भार सँभालने के कारण शिवजी दुखी हुए।

श्रीभगवानुवाच  
 त्वयोदितं शोभनमेव शोभने  
 अनाहुता अप्यभियन्ति बन्धुषु ।  
 ते यद्यनुत्पादितदोषदृष्टयो  
 बलीयसानात्म्यमदेन मन्युना ॥ १६ ॥

#### शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच— भगवान् ने कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितम्—कहा; शोभनम्—सही है; एव—निश्चय ही; शोभने—मेरी सुन्दर पत्नी; अनाहुता:—बिना बुलाये; अपि—ही; अभियन्ति—जाते हैं; बन्धुषु—मित्रों के बीच; ते—वे ( मित्र ); यदि—यदि; अनुत्पादित-दोष-दृष्टयः—दोष न निकालकर; बलीयसा—अधिक महत्त्वपूर्ण; अनात्म्य-मदेन—देह से उत्पन्न अभिमान से; मन्युना—क्रोध से।

प्रभु ने उत्तर दिया : हे सुन्दरी, तुमने कहा कि अपने मित्र के घर बिना बुलाये जाया जा सकता है। यह सच है, किन्तु तब जब वह देहात्मबोध के कारण अतिथि में दोष न निकाले और

उस पर क्रुद्ध न हो।

**तात्पर्य :** भगवान् शिव ने पहले से ही जान लिया था कि जैसे ही सती अपने पिता दक्ष के घर पहुँचेगी तो यद्यपि सती निर्दोष है, किन्तु देहात्म-अभिमान से पूर्ण दक्ष उस की उपस्थिति से अवश्य रुष्ट होगा। शिवजी ने सतर्क किया कि तुम्हारा पिता धन के मद में इतना फूला हुआ है, वह तुम पर क्रुद्ध होगा, और यह तुम्हारे लिए असहनीय होगा। इसलिए उचित यही होगा कि तुम न जाओ। इस सब का शिव को अनुभव हो गया था, क्योंकि उनके दोष-रहित होते हुए भी दक्ष ने उनके प्रति इतने कटु वचन कहे थे।

**विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः**

**सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः ।**

**स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः**

**स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम् ॥ १७ ॥**

**शब्दार्थ**

विद्या—शिक्षा; तपः—तपस्या; वित्त—सम्पत्ति; वपुः—शरीर की सुन्दरता इत्यादि.; वयः—यौवन; कुलैः—कुल से; सताम्—पवित्र लोगों का; गुणैः—ऐसे गुणों के कारण; षड्भिः—छह; असत्तम-इतरैः—जो महान्-आत्मा नहीं हैं उनके विपरीत आचरण वाले; स्मृतौ—अच्छा भाव; हतायाम्—खोया हुआ; भृत-मान-दुर्दृशः—गर्व से अन्धा; स्तब्धाः—घमंडी होकर; न—नहीं; पश्यन्ति—देखते हैं; हि—क्योंकि; धाम—यश; भूयसाम्—महान् आत्माओं का।

यद्यपि शिक्षा, तप, धन, सौन्दर्य, यौवन और कुलीनता—ये छह गुण अत्यन्त उच्च होते हैं, किन्तु जो इनको प्राप्त करके मदान्ध हो जाता है और इस प्रकार वह सद्ज्ञान खो बैठता है, वह महापुरुषों के महिमा को स्वीकार नहीं कर पाता।

**तात्पर्य :** यह तर्क किया जा सकता है कि जब दक्ष अत्यन्त विद्वान्, धनवान तथा तपस्वी था और उच्च कुल से सम्बन्धित था, तो फिर वह दूसरे पर अकारण क्रुद्ध क्यों हुआ? इसका उत्तर यही है कि अच्छी शिक्षा, उत्तम कुल, सौन्दर्य तथा प्रभूत सम्पत्ति जैसे गुणों के होने से जब इनका अधिकारी व्यक्ति गर्वीला हो जाता है, तो उनका बुरा प्रभाव पड़ता है। दूध अच्छा भोजन है, किन्तु जब कोई विषैला सर्प इसे छू लेता है, तो वह विषाक्त हो जाता है। इसी प्रकार से शिक्षा, सम्पत्ति, सौन्दर्य तथा उच्च कुल जैसी भौतिक सम्पत्ति—यद्यपि ये निस्सन्देह सद्गुण हैं, किन्तु जब ये द्वेषपूर्ण व्यक्ति में स्थान पाते हैं, तो इनका विपरीत प्रभाव होता है। एक अन्य उदाहरण चाणक्य पंडित द्वारा दिया हुआ है कि अपने शिर

में मणि धारण किये हुए सर्प भी भयानक ही होता है क्योंकि वह सर्प है। सर्प प्रकृति के अन्य जीवों से ईर्ष्या करता है, भले ही वे निर्दोष क्यों न हों। जब सर्प किसी अन्य प्राणी को काटता है, तो यह आवश्यक नहीं कि वह प्राणी सदोष हो। सर्प की आदत ही है निर्दोष प्राणियों को डसना। इसीप्रकार यद्यपि दक्ष सभी प्रकार की भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न था, किन्तु उसे अपनी सम्पत्ति का गर्व था और वह ईर्ष्यालु था, अतः ये सारे गुण दूषित हो चुके थे। इसीलिए कभी-कभी ऐसी सम्पत्ति का होना आत्म-चेतना या कृष्णभावनामृत में प्रगति करने वाले व्यक्ति के लिए बाधक बनता है। श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए कुन्तीदेवी ने उन्हें *अकिञ्चन-गोचर* कह कर पुकारा था जिसका अर्थ होता है समस्त धन-धान्य से रहित व्यक्तियों द्वारा सहज ही प्राप्त होनेवाला। कृष्णभावनामृत में अग्रसर होने के लिए भौतिक सम्पत्ति का अभाव होना एक प्रकार से लाभप्रद है—श्रीभगवान् के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध के प्रति सचेष्ट रहनेवाला व्यक्ति अपनी भौतिक सम्पत्ति, यथा विद्या, सौंदर्य तथा कुलीनता का लाभ भगवान् की सेवा के लिए उठा सकता है और तब ऐसी सम्पत्ति प्रशंसनीय हो जाती है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई कृष्णभावनाभावित नहीं होता, तब तक उसकी सारी दौलत शून्य रहती है, किन्तु जब यह शून्य परमेश्वर के साथ लग जाता है, तो इसका मान दस गुना बढ़ जाता है। जब तक शून्य परमेश्वर के साथ नहीं लगता, शून्य शून्य ही रहता है, चाहे कोई १०० शून्य क्यों न रखे, उसका मूल्य शून्य ही रहेगा। जब तक मनुष्य की दौलत कृष्णभक्ति में नहीं लगती, तब तक वह हलचल मचवाती है और संग्राहक को नीचे गिरा देती है।

नैतादृशानां स्वजनव्यपेक्षया

गृहान्प्रतीयादनवस्थितात्मनाम् ।

येऽभ्यागतान्वक्रधियाभिचक्षते

आरोपितभूभिरमर्षणाक्षिभिः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतादृशानाम्—इस प्रकार; स्व-जन—सम्बन्धी के; व्यपेक्षया—उस पर निर्भर रह कर; गृहान्—घर में; प्रतीयात्—जाना चाहिए; अनवस्थित—विचलित; आत्मनाम्—मन; ये—जो; अभ्यागतान्—अतिथि; वक्र-धिया—अनादर से; अभिचक्षते—देखते हुए; आरोपित-भूभिः—उठी हुई भृकुटियों से; अमर्षण—क्रुद्ध; अक्षिभिः—आँखों से।

मनुष्य को चाहिए कि वह ऐसी स्थिति में किसी दूसरे व्यक्ति के घर न जाये, भले ही वह उसका सम्बन्धी या मित्र ही क्यों न हो, जब वह मन से क्षुब्ध हो और अतिथि को तनी हुई

भृकुटियों एवं क्रुद्ध नेत्रों से देख रहा हो।

तात्पर्य : कोई व्यक्ति चाहे कितना ही नीच क्यों न हो, वह अपनी सन्तान, पत्नी तथा सम्बन्धियों पर कभी निर्दय नहीं होता। यहाँ तक कि बाघ भी अपने बच्चों के प्रति दयालु होता है क्योंकि पशुजगत में बच्चों के साथ अच्छा व्यवहार किया जाता है। चूँकि सती दक्ष की पुत्री थी, अतः चाहे वह कितना ही क्रूर एवं दूषित क्यों न रहा हो, उससे यह अपेक्षा की जाती थी कि वह सती का उत्तम रीति से स्वागत करेगा। किन्तु यहाँ पर *अनवस्थित* शब्द यह संकेत करता है कि ऐसे व्यक्ति पर विश्वास नहीं किया जा सकता। बाघ अपने बच्चों पर सदय होते हैं, किन्तु कभी-कभी वे उन्हें खा जाते हैं। विद्वेषपूर्ण (कपटी) व्यक्तियों पर विश्वास नहीं करना चाहिए, क्योंकि वे सदैव दुलमुल रहते हैं। इसीलिए सती से शिव ने कहा कि वह अपने मायके न जाये क्योंकि ऐसे पिता को सम्बन्धी मानकर बिना आमंत्रण के उसके घर जाना उचित नहीं था।

तथारिभिर्न व्यथते शिलीमुखैः

शेतेऽर्दिताङ्गो हृदयेन दूयता ।

स्वानां यथा वक्रधियां दुरुक्तिभिर्

दिवानिशं तप्यति मर्मताडितः ॥ १९ ॥

#### शब्दार्थ

तथा—अतः; अरिभिः—शत्रु के द्वारा; न—नहीं; व्यथते—आहत; शिलीमुखैः—बाणों द्वारा; शेते—लेटता है; अर्दित—दुखित; अङ्गः—अंग, कोई भाग; हृदयेन—हृदय से; दूयता—कष्ट पहुँचाता हुआ; स्वानाम्—स्वजनों का; यथा—जिस प्रकार; वक्र-धियाम्—कुटिल बुद्धि, छली; दुरुक्तिभिः—कटु वचनों से; दिवा-निशम्—अर्हनिश, दिन-रात; तप्यति—बेचैन रहता है; मर्म-ताडितः—जिसकी भावनाओं को ठेस पहुँचती है, मर्माहत।

शिवजी ने कहा : यदि कोई शत्रु के बाणों से आहत हो तो उसे उतनी व्यथा नहीं होती जितनी कि स्वजनों के कटु वचनों से होती है क्योंकि यह पीड़ा रात-दिन हृदय में चुभती रहती है।

तात्पर्य : हो सकता है कि सती ने सोचा हो कि वह अपने पिता के घर जाने का दुस्साहस करेगी और यदि उसके पिता कटु वचन कहते भी हैं, तो वह सह लेगी, जिस प्रकार कभी-कभी पुत्र अपने माता-पिता की झिड़कियाँ सहता है। लेकिन शिवजी ने उसे स्मरण दिलाया कि वह इतने कटु वचन नहीं सह पाएगी, क्योंकि मनोविज्ञान कहता है कि भले ही कोई अपने शत्रु के द्वारा पहुँचाई गई पीड़ा

सह ले, क्योंकि वह स्वाभाविक होती है, किन्तु जब कोई व्यक्ति अपने सम्बन्धी के कठोर वचनों से आहत होता है, तो उसे उसकी पीड़ा रात-दिन बनी रहती है और कभी-कभी यह पीड़ा इतनी असह्य हो जाती है कि वह व्यक्ति आत्महत्या ही कर लेता है।

व्यक्तं त्वमुत्कृष्टगतेः प्रजापतेः

प्रियात्मजानामसि सुभु मे मता ।

तथापि मानं न पितुः प्रपत्स्यसे

मदाश्रयात्कः परितप्यते यतः ॥ २० ॥

#### शब्दार्थ

व्यक्तम्—स्पष्ट है; त्वम्—तुम; उत्कृष्ट-गतेः—उत्तम आचरण वाली; प्रजापतेः—प्रजापति दक्ष की; प्रिया—अत्यन्त प्रिय; आत्मजानाम्—पुत्रियों में; असि—हो; सुभु—हे सुन्दर भाँहों वाली; मे—मेरा; मता—विचार कर; तथा अपि—फिर भी; मानम्—सम्मान; न—नहीं; पितुः—अपने पिता से; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगी; मत्-आश्रयात्—मुझसे सम्बन्धित होने से; कः—दक्ष; परितप्यते—पीड़ा का अनुभव करता है; यतः—जिससे।

हे शुभ्रांगिनी प्रिये, यह स्पष्ट है कि तुम दक्ष को अपनी पुत्रियों में सबसे अधिक प्यारी हो, तो भी तुम उसके घर में सम्मानित नहीं होगी, क्योंकि तुम मेरी पत्नी हो। उल्टे तुम्हें ही दुख होगा कि तुम मुझसे सम्बन्धित हो।

तात्पर्य : शिवजी ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि सती अपने पति के बिना ही अकेले जाना चाहे तो भी उसका ठीक से सम्मान नहीं होगा, क्योंकि वह उनकी पत्नी जो ठहरी। भले ही वह अकेले ही क्यों न जाए, अनहोनी की प्रबल सम्भावना है। अतः शिवजी ने अप्रत्यक्ष रूप से सती को अपने पिता के घर न जाने का आग्रह किया।

पापच्यमानेन हृदातुरेन्द्रियः

समृद्धिभिः पूरुषबुद्धिसाक्षिणाम् ।

अकल्प एषामधिरोढुमञ्जसा

परं पदं द्वेष्टि यथासुरा हरिम् ॥ २१ ॥

#### शब्दार्थ

पापच्यमानेन—जलते हुए; हृदा—हृदय में; आतुर-इन्द्रियः—संकटग्रस्त; समृद्धिभिः—पवित्र ख्याति इत्यादि से.; पूरुष-बुद्धि-साक्षिणाम्—परमेश्वर के ध्यान में सदैव लीन रहने वालों का; अकल्पः—असमर्थ होकर; एषाम्—उन पुरुषों का; अधिरोढुम्—उठने के लिए; अञ्जसा—शीघ्र; परम्—केवल; पदम्—स्तर तक; द्वेष्टि—द्वेष रखता है, कुढ़ता रहता है; यथा—जितना कि; असुराः—असुरगण; हरिम्—श्रीभगवान् से।

जो मिथ्या अहंकार से प्रेरित होकर सदैव मन से तथा इन्द्रियों से संतापित रहता है, वह

स्वरूप-सिद्ध पुरुषों के ऐश्वर्य को सहन नहीं कर पाता। आत्म-साक्षात्कार के पद तक उठने में अक्षम होने से वह ऐसे पुरुषों से उसी प्रकार से ईर्ष्या करता है, जिस प्रकार असुर श्रीभगवान् से ईर्ष्या करते हैं।

**तात्पर्य :** यहाँ पर शिवजी तथा दक्ष के मध्य शत्रुता का वास्तविक कारण बताया गया है। दक्ष शिवजी से ईर्ष्या करता था, क्योंकि शिवजी भगवान् के गुणावतार हैं और परमात्मा के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहने के कारण दक्ष की अपेक्षा उन्हें अच्छा पद प्राप्त था। इसके अतिरिक्त और भी अनेक कारण थे। भौतिक रूप से गर्वित होने के कारण दक्ष द्वारा शिव का उच्च पद सहन नहीं किया जा सका, अतः उसकी उपस्थिति में शिव का न खड़े होना उसके क्रोध का अन्तिम प्राकट्य ही था। शिवजी सदैव ध्यानमग्न रहते हैं और परमात्मा का साक्षात्कार करते रहते हैं जैसाकि यहाँ पर *पुरुष बुद्धिसाक्षिणाम्* शब्दों से सूचित होता है। जिसकी बुद्धि निरन्तर भगवान् के ध्यान में डूबी हो उसका पद अत्युच्च होता है और उसकी नकल कोई नहीं कर सकता, विशेष रूप से सामान्य व्यक्ति तो नहीं ही। जब दक्ष यज्ञस्थल में प्रविष्ट हुआ तो उस समय शिव ध्यानमग्न थे और हो सकता है कि उन्होंने उसे प्रवेश करते देखा ही न हो, किन्तु दक्ष ने इस अवसर का लाभ उठाकर उन्हें शाप दे डाला क्योंकि वह लम्बे समय से शिव के प्रति द्वेषपूर्ण रवैया अपनाये हुए था। जो वास्तव में स्वरूपसिद्ध हैं, वे प्रत्येक प्राणी को भगवान् के मन्दिर के रूप में देखते हैं, क्योंकि परमात्मा रूप में भगवान् प्रत्येक प्राणी के शरीर में निवास करते हैं।

जब कोई देह का सम्मान करता है, तो वह भौतिक शरीर का नहीं, अपितु परमेश्वर के अस्तित्व का आदर करता है। इस प्रकार जो परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करता है, वह उन्हें सदैव नमस्कार करता रहता है। किन्तु दक्ष अधिक जागृत नहीं था, अतः वह सोचता था कि भौतिक देह को नमस्कार ही सम्मान है और चूँकि शिवजी ने उसके भौतिक शरीर का आदर नहीं किया था, इसलिए दक्ष को ईर्ष्या हो आई। ऐसे व्यक्ति कभी भी शिवजी जैसी स्वरूपसिद्ध आत्माओं के पद तक ऊपर नहीं उठ सकते; इसलिए वे सदैव ईर्ष्यालु रहते हैं। यहाँ पर दिया गया उदाहरण उपयुक्त है। असुर, राक्षस अथवा नास्तिक भगवान् से सदैव द्वेष रखते हैं, वे उन्हें मार डालना चाहते हैं। इस युग में भी कुछ ऐसे



तथाकथित विद्वान् हैं, जो कृष्ण से ईर्ष्या करने के कारण भगवद्गीता पर टीका टिप्पणी करते हैं। जब कृष्ण यह कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्तः* (भगवद्गीता १८.६५)—सदैव मेरा चिन्तन करो, मेरे भक्त बनो और मेरी शरण में आओ—तो ये तथाकथित विद्वान् कहते हैं कि हमें जिसकी शरण में जाना है, वह कृष्ण नहीं। यह ईर्ष्या नहीं तो क्या है? असुर अथवा नास्तिक जन बिना किसी कारण के भगवान् से ईर्ष्या करते हैं। इसी प्रकार वे मूर्ख, जो आत्म-साक्षात्कार के सर्वोच्च पद तक नहीं पहुँच पाते, अकारण ही स्वरूपसिद्ध पुरुषों को सम्मान प्रदान करने के बजाय उनसे ईर्ष्या करते हैं।

प्रत्युद्गमप्रश्रयणाभिवादनं

विधीयते साधु मिथः सुमध्यमे ।

प्राज्ञैः परस्मै पुरुषाय चेतसा

गुहाशयायैव न देहमानिने ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रत्युद्गम—अपने आसन पर खड़े होना; प्रश्रयण—स्वागत करना; अभिवादनम्—नमस्कार; विधीयते—किये जाते हैं; साधु—उचित; मिथः—पारस्परिक; सु-मध्यमे—हे मेरी प्रिये; प्राज्ञैः—बुद्धिमान द्वारा; परस्मै—परमेश्वर को; पुरुषाय—परमात्मा को; चेतसा—बुद्धि से; गुहा-शयाय—शरीर के भीतर बैठकर; एव—निश्चय ही; न—नहीं; देह-मानिने—देह रूप पुरुष को।

हे तरुणी भार्ये, निस्सन्देह, मित्र तथा स्वजन खड़े होकर एक दूसरे का स्वागत और नमस्कार करके परस्पर अभिवादन करते हैं। किन्तु जो दिव्य पद पर ऊपर उठ चुके हैं, वे प्रबुद्ध होने के कारण ऐसा सम्मान प्रत्येक शरीर में वास करने वाले परमात्मा का ही करते हैं, देहाभिमानी पुरुष का नहीं।

तात्पर्य : यहाँ यह तर्क भी दिया जा सकती है कि शिवजी के श्वसुर होने के कारण दक्ष का सम्मान करना शिवजी का धर्म था। इसके उत्तर में यही कहना है कि जब कोई विद्वान् पुरुष सत्कार हेतु खड़ा होता है या नमस्कार करता है, तो वह हर एक के हृदय में आसीन परमात्मा को नमस्कार करता है। अतः यह देखा जाता है कि वैष्णवों में यदि शिष्य तक अपने गुरु को नमस्कार करता है, तो बदले में गुरु तुरन्त नमस्कार करता है, क्योंकि यह नमस्कार शरीर को नहीं वरन् परमात्मा को किया जाता है। फलतः गुरु भी शिष्य के शरीर में स्थित परमात्मा को नमस्कार करता है। श्रीमद्भागवत में भगवान् कहते हैं कि उनको सम्मान प्रदान करने की अपेक्षा उनके भक्त को सम्मान देना अधिक मूल्यवान है। भक्त अपने को शरीर करके नहीं मानते, अतः किसी भी वैष्णव को प्रणाम करने का अर्थ है विष्णु को

प्रणाम करना। यह भी कहा जाता है कि शिष्टाचार के नाते ज्योंही कोई वैष्णव दिखे उसे तुरन्त नमस्कार किया जाय, जिससे यह सूचित हो कि उसके भीतर परमात्मा स्थित है। वैष्णव शरीर को विष्णु का मन्दिर मानता है। चूँकि शिवजी कृष्णचेतना में परमात्मा को पहले ही नमस्कार कर चुके थे, अतः दक्ष को, जो अपने को शरीर रूप में मान रहा था, पहले ही नमस्कार अर्पित हो चुका था। उसके शरीर को नमस्कार अर्पित करने की आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि किसी भी वैदिक आदेश में ऐसा निर्दिष्ट नहीं है।

सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दितं  
यदीयते तत्र पुमानपावृतः ।  
सत्त्वे च तस्मिन्भगवान्वासुदेवो  
ह्यधोक्षजो मे नमसा विधीयते ॥ २३ ॥

#### शब्दार्थ

सत्त्वम्—चेतना; विशुद्धम्—शुद्ध; वसुदेव—वसुदेव; शब्दितम्—नाम से विख्यात; यत्—क्योंकि; ईयते—प्रकट होता है; तत्र—वहाँ; पुमान्—परम पुरुष; अपावृतः—किसी आवरण के बिना; सत्त्वे—चेतना में; च—तथा; तस्मिन्—उसमें; भगवान्—भगवान्; वासुदेवः—वासुदेव; हि—क्योंकि; अधोक्षजः—दिव्य; मे—मेरे द्वारा; नमसा—नमस्कार से; विधीयते—पूजित।

मैं शुद्ध कृष्णचेतना में भगवान् वासुदेव को सदैव नमस्कार करता रहता हूँ। कृष्णभावनामृत ही सदैव शुद्ध चेतना है, जिसमें वासुदेव नाम से अभिहित श्रीभगवान् का बिना किसी प्रकार का दुराव का अनुभव होता है।

तात्पर्य : जीवात्मा स्वाभाविक रूप से शुद्ध है। असङ्गो ह्ययं पुरुषः। वेदों में कहा गया है कि आत्मा सदैव शुद्ध और भौतिक आसक्ति से अदूषित रहता है। आत्मा के साथ देह की पहचान करना अज्ञान के कारण है। ज्योंही कोई पूरी तरह से कृष्णभावना भावित हो जाता है, तो यह समझना चाहिए कि वह शुद्ध मूल स्वाभाविक स्थिति को प्राप्त हो गया है। यह स्थिति शुद्ध-सत्त्व कहलाती है। चूँकि यह शुद्ध सत्त्व स्थिति अन्तरंगा शक्ति के प्रत्यक्ष वश में है, अतः इस स्थिति में सारे सांसारिक कार्य रुक जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब लोहे को अग्नि में रखा जाता है, तो वह गर्म होता है और जब लाल हो जाता है, तो यह लोहा होकर भी अग्नि के समान कार्य करता है। इसी प्रकार जब ताँबे में से बिजली प्रवाहित होती है, तो वह ताँबे की भाँति कार्य नहीं करता, वह बिजली की भाँति कर्म करता है।

भगवद्गीता (१४.२६) में भी पुष्टि हुई है कि जो भगवान् की अमिश्रित भक्ति करता है, वह तुरन्त ही शुद्ध ब्रह्म पद को प्राप्त होता है।

*मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।*

*स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

अतः जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है, शुद्ध सत्त्व दिव्य पद है, जो पारिभाषिक रूप में वसुदेव कहलाता है। वसुदेव एक पुरुष का भी नाम है, जिससे कृष्ण प्रकट हुए। यह श्लोक बताता है कि शुद्ध स्थिति वसुदेव कहलाती है, क्योंकि उस स्थिति में भगवान् वासुदेव बिना किसी दुराव के अनुभव किये जाते हैं। अतः अमिश्रित भक्ति करने के लिए सकाम कर्म या मानसिक कल्पना द्वारा किसी प्रकार के भौतिक लाभ की इच्छा किये बिना भक्ति के नियमों का पालन करना चाहिए।

शुद्ध भक्ति में मनुष्य अकारण तथा बिना किसी रुकावट के अपना कर्तव्य मान कर भगवान् की मात्र सेवा करता रहता है। यही शुद्ध सत्त्व या वासुदेव कहलाता है, क्योंकि इस अवस्था में भक्त के हृदय में परम पुरुष कृष्ण का उदय होता है। श्रील जीव गोस्वामी ने अपने *भगवत्-सन्दर्भ* में इस *वासुदेव* अथवा शुद्ध सत्त्व का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया है। वे बताते हैं कि गुरु के नाम के आगे *अष्टोत्तर-शत* (१०८) जोड़ दिया जाता है, जो वह सूचित करता है कि वह शुद्ध सत्त्व या वसुदेव की दिव्य स्थिति में है। *वासुदेव* शब्द का प्रयोग अन्य प्रकार से भी होता है। उदाहरणार्थ, वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी भी है। सूर्य भी *वासुदेव-शब्दितम्* कहलाता है। भले ही वासुदेव को विभिन्न अर्थों में क्यों न प्रयुक्त करें, किन्तु वासुदेव का अर्थ सर्वव्यापी या अन्तर्यामी भगवान् है। *भगवद्गीता* (७.१९) में भी कहा गया है—*वासुदेवः सर्वम् इति*। वास्तविक अनुभूति तो भगवान् वासुदेव को समझना और उनकी शरण में जाना है। वसुदेव वह भावभूमि है, जिस पर श्रीभगवान् वासुदेव का बोध होता है। जब मनुष्य भौतिक प्रकृति के कल्मष से रहित होता है और शुद्ध कृष्णचेतना अथवा वसुदेव अर्थात् वासुदेव पद में स्थित होता है, तो भगवान् वासुदेव का बोध होता है। यह *कैवल्य* पद कहलाता है, जिसका अर्थ है “शुद्ध चेतना।” *ज्ञानं सात्त्विकं कैवल्यम्*। जब मनुष्य शुद्ध दिव्य ज्ञान को प्राप्त होता है, तो वह कैवल्य पद पर स्थित होता है। अतः वसुदेव का अर्थ *कैवल्य* भी होता है, जिस का व्यवहार सामान्य

रूप से निर्विशेषवादी करते हैं। निर्गुण कैवल्य साक्षात्कार (अनुभूति) की अतिन्म अवस्था नहीं है। अकृष्णचेतना कैवल्य में जब कोई भगवान् को समझ लेता है, तो वह सफल हो जाता है। उस शुद्ध अवस्था में श्रवण, कीर्तन, स्मरण इत्यादि के द्वारा कृष्णविज्ञान का विकास होने से मनुष्य भगवान् को समझ सकता है। ये सारे कार्य परमेश्वर की अन्तरंगा शक्ति के निर्देशन में होते हैं।

इस श्लोक में अन्तरंगा शक्ति के कार्य का वर्णन भी *अपावृतः* अर्थात् किसी आवरण से रहित रूप में किया गया है। चूँकि भगवान्, उनका नाम, रूप, गुण, सामग्री इत्यादि दिव्य होने के कारण भौतिक प्रकृति से परे हैं, अतः भौतिक इन्द्रियों के द्वारा इनमें से किसी एक को भी समझ पाना सम्भव नहीं है। जब इन्द्रियाँ शुद्ध भक्ति करने से पवित्र हो जाती हैं (*हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते*) तो शुद्ध इन्द्रियाँ श्रीकृष्ण को बिना आवरण के देख सकती हैं। अब कोई यह प्रश्न करे कि चूँकि भक्त के वस्तुतः वही भौतिक देह होती है, तो वही भौतिक नेत्र किस प्रकार भक्ति से पवित्र हो सकते हैं? भगवान् चैतन्य ने जो उदाहरण दिया है, वह है कि भक्ति से मन का दर्पण निर्मल हो जाता है। स्वच्छ दर्पण में मुख को स्पष्ट देखा जा सकता है। इसी प्रकार केवल मन के दर्पण को स्वच्छ कर लेने से भगवान् की स्पष्ट अनुभूति हो सकती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है—*अभ्यासयोगयुक्तेन।* निर्दिष्ट कर्तव्यों को भक्ति में करते हुए *चेतसा नान्यगामिना* या ईश्वर के विषय में केवल सुन कर तथा उनका कीर्तन करके यदि किसी का मन निरन्तर श्रवण तथा कीर्तन में लगा रहे और अन्यत्र कहीं न जाए, तो मनुष्य को भगवान् का साक्षात्कार हो सकता है। जैसी कि भगवान् चैतन्य ने पुष्टि की है, भक्तियोग प्रक्रिया द्वारा श्रवण तथा कीर्तन से प्रारम्भ करके मनुष्य अपने मन तथा हृदय को स्वच्छ बना सकता है और इस तरह वह भगवान् के मुख का स्पष्ट दर्शन पा सकता है।

शिवजी ने बताया कि चूँकि उनके हृदय तथा मन के अन्दर परमेश्वर सदैव विद्यमान रहते हैं, अतः उनका हृदय सदैव वासुदेव की भावना से पूरित रहता है और वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को सदैव नमस्कार करते रहते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि शिव सदैव समाधि में रहते हैं। यह समाधि भक्त के वश की बात नहीं, यह तो वासुदेव के वश में है क्योंकि भगवान् की समस्त अंतरंगा शक्ति उन्हीं के आदेश से कार्यशील होती है। वस्तुतः, भौतिक शक्ति भी उन्हीं के आदेश से कार्यशील

है, किन्तु उनकी प्रत्यक्ष इच्छा तो आत्मिक शक्ति द्वारा पूरी होती है। अतः अपनी अन्तरंगा शक्ति से वे स्वयं प्रकट होते हैं। *भगवद्गीता* (४.६) में कहा गया है— *सम्भवाम्यात्ममायया। आत्ममायया* का अर्थ “अन्तरंगा शक्ति” है। अपने भक्त की दिव्य प्रेमाभक्ति से प्रसन्न होकर वे अपनी इच्छा से अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होते हैं। भक्त कभी आदेश नहीं देता कि मेरे भगवान् तुम यहाँ आओ जिससे मैं तुम्हारा दर्शन कर लूँ। भक्त को यह पद प्राप्त नहीं कि वह ईश्वर को आदेश दे सके कि मेरे सम्मुख आओ या नाचो। ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो ईश्वर को अपने समक्ष नाचते हुए आने के लिए बुलाते हैं। किन्तु ईश्वर किसी के द्वारा आदेशित नहीं होते। हाँ, यदि वे किसी के शुद्ध भक्तिमय कार्यकलापों से प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे स्वतः प्रकट होते हैं। इसलिए इस श्लोक में *अधोक्षज* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि हमारी भौतिक इन्द्रियों के कार्यों से ईश्वर का साक्षात्कार नहीं हो पाएगा। कोई अपनी मानसिक कल्पना के प्रयास से भगवान् का साक्षात्कार नहीं कर सकता, किन्तु यदि वह ऐसा करना चाहता है, तो उसे अपनी इन्द्रियों के सारे कार्यों को दमित करना पड़ेगा और तब भगवान् आत्मिक शक्ति को प्रकट करते हुए शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं। तो जब भगवान् शुद्ध भक्त के समक्ष प्रकट होते हैं, तो भक्त के लिए उनको सादर नमस्कार करने के अतिरिक्त कोई अन्य कर्तव्य नहीं रह जाता। परम सत्य अपना रूप भक्त को दिखाते हैं। वे रूपहीन नहीं हैं। वासुदेव रूपहीन नहीं हैं, क्योंकि इस श्लोक में कहा गया है ज्योंही भगवान् प्रकट होते हैं भक्त उन्हें नमस्कार करता है। नमस्कार व्यक्ति को किया जाता है, किसी निराकार वस्तु को नहीं। मनुष्य को यह मायावादी व्याख्या स्वीकार नहीं करनी चाहिए कि वासुदेव निर्विशेष या निराकार हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है— *प्रपद्यते* अर्थात् मनुष्य समर्पण करता है। समर्पण सदैव व्यक्ति के प्रति किया जाता है किसी निर्विशेष को नहीं। जब समर्पण या नमस्कार करने का प्रश्न आता है, तो समर्पण या नमस्कार का कोई न कोई लक्ष्य होना चाहिए।

तत्ते निरीक्ष्यो न पितापि देहकृद्  
 दक्षो मम द्विट्दत्तदनुव्रताश्च ये ।  
 यो विश्वसृग्यज्ञगतं वरोरु मा-

मनागसं दुर्वचसाकरोत्तिरः ॥ २४ ॥

### शब्दार्थ

तत्—अतः; ते—तुम्हारा; निरीक्ष्यः—देखने जाने के लिए; न—नहीं; पिता—तुम्हारा पिता; अपि—यद्यपि; देह-कृत्—तुम्हारे शरीर का दाता; दक्षः—दक्ष; मम—मेरा; द्विट्—ईर्ष्यालु; तत्-अनुव्रताः—उसके ( दक्ष के ) अनुयायी; च—भी; ये—जो; यः—जो ( दक्ष ); विश्व-सृक्—विश्वसृकों के; यज्ञ-गतम्—यज्ञ में उपस्थित होने से; वर-ऊरु—हे सती; माम्—मुझको; अनागसम्—निर्दोष होने से; दुर्वचसा—कटुवचनों से; अकरोत् तिरः—अपमान किया है।

अतः तुम्हें अपने पिता को, यद्यपि वह तुम्हारे शरीर का दाता है, मिलने नहीं जाना चाहिए क्योंकि वह और उसके अनुयायी मुझसे ईर्ष्या करते हैं। हे परम पूज्या, इसी ईर्ष्या के कारण मेरे निर्दोष होते हुए भी उसने अत्यन्त कटु शब्दों से मेरा अपमान किया है।

तात्पर्य : स्त्री के लिए पति तथा पिता समान रूप से पूज्य हैं। पति स्त्री की युवावस्था में रक्षा करता है, जबकि पिता उसके बाल्यकाल का रक्षक होता है। इस प्रकार दोनों ही पूज्य हैं, किन्तु शरीर को जन्म देने के कारण पिता विशेष रूप से पूज्य होता है। शिवजी ने सती को स्मरण दिलाया, “निस्सन्देह, तुम्हारे पिता मुझसे भी अधिक पूज्य हैं किन्तु सावधान रहना, क्योंकि यदि वे तुम्हें शरीर प्रदान करने वाले हैं, तो जब तुम उन्हें देखने जाओगी तो वे तुम्हारा शरीर ले भी सकते हैं और मुझसे सम्बन्ध होने के कारण तुम्हारा अपमान भी कर सकते हैं। किसी स्वजन द्वारा किया गया अपमान मृत्यु से भी निकृष्ट है विशेष रूप से जब वह अच्छे पद पर स्थित हो।”

यदि ब्रजिष्यस्यतिहाय मद्रुचो

भद्रं भवत्या न ततो भविष्यति ।

सम्भावितस्य स्वजनात्पराभवो

यदा स सद्यो मरणाय कल्पते ॥ २५ ॥

### शब्दार्थ

यदि—यदि; ब्रजिष्यसि—तुम जाओगी; अतिहाय—उपेक्षा करके; मत्-वचः—मेरे वचन; भद्रम्—कल्याण; भवत्याः—तुम्हारा; न—नहीं; ततः—तब; भविष्यति—होगा; सम्भावितस्य—अत्यन्त सम्माननीय; स्वजनात्—अपने सम्बन्धियों द्वारा; पराभवः—अपमानित होते हैं; यदा—जब; सः—वह अपमान; सद्यः—तुरन्त; मरणाय—मृत्यु के; कल्पते—तुल्य है।

यदि इस शिक्षा के बावजूद मेरे वचनों की उपेक्षा करके तुम जाने का निश्चय करती हो तो तुम्हारे लिए भविष्य अच्छा नहीं होगा। तुम अत्यन्त सम्माननीय हो और जब तुम स्वजन द्वारा अपमानित होगी तो यह अपमान तुरन्त ही मृत्यु के तुल्य हो जाएगा।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के चतुर्थ स्कन्ध के अन्तर्गत “श्रीशिव तथा सती का संवाद” नामक

तीसरे अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।